



प्रकाशित: 14 अगस्त को नेशनलिस्ट ऑनलाइन डॉट कॉम में प्रकाशित -

संघ दर्शन: समाज में व्याप्त जातिवाद के अंत का मार्ग है हिंदुत्व

प्रणय कुमार -

साधारणतया मैं हिंदू समाज में व्याप्त जातिगत भेद-भाव या छुआ-छूत की भावनाओं पर कोई टिप्पणी नहीं करता। क्योंकि इस प्रकार की चर्चाओं की परिणति प्रायः “तू-तू, मैं-मैं” में ही होती है। भारतीय समाज में जातिगत ग्रन्थियाँ इतने गहरे तक पैठी हैं कि इस पर सार्थक और तार्किक विमर्श की संभावना न्यूनतम होती है। इस प्रकार की चर्चाओं में प्रायः पढ़ा-लिखा समाज भी जातीय पूर्वाग्रहों और पारंपरिक धारणाओं से मुक्त नहीं रह पाता। समस्या दोनों तरफ़ है, वह जिसकी सामाजिक स्थिति मज़बूत है और वह जिसे कानूनी रूप से पिछड़ा और वंचित समझा जाता है। सदियों पूर्व हुए शोषण का प्रतिरोध लेने की प्रवृत्ति भी विभाजनकारी व घातक है और स्वयं को श्रेष्ठ समझते हुए अपने ही समाज के कुछ तबकों को पिछड़ा और कमतर समझने की सामंतवादी प्रवृत्ति भी। यह घोर निंदनीय है कि आज के आधुनिक और वैज्ञानिक युग में भी किसी समाज में छुआ-छूत की भावना पाई जाय। पर अपने अनुभव से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का तरीका भी टकराव आधारित नहीं होना चाहिए। इससे जातिवाद समाप्त होने की बजाय और बढ़ेगा। इसका तरीका कोई ऐसा होना चाहिए जिसमें बिना शोर-शराबे, नारे-बाजे के स्वाभाविक रूप से जाति-भेद मिटे, समाज के सामूहिक अनुभवों की साझेदारी हो और विकास की बयार एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेरोक-टोक बहे! आप सोच रहे होंगे कि यह कैसे संभव है? तो कभी आप संघ के शिविरों में जाकर देखिए, उसकी शाखा में जाकर देखिए, वर्षों साथ काम करने वाले, साथ खाने-खेलने वाले लोग एक-दूसरे की जाति तक नहीं जान रहे होते, न जानने की कोशिश करते हैं! ऐसी समरसता और अंतरंगता उनके कार्यकर्ताओं में देखने को मिलती है कि सहसा यकीन नहीं होता कि ऐसा भी संभव है? यदि केवल उपदेश भर दिया जाता, दिन-रात भाषणबाजी की जाती तो क्या यह संभव था? कदापि नहीं! दिखावे के लिए ऐसा होता भी तो मन से जातिवाद की गाँठें खत्म नहीं होतीं। जातिवाद खत्म बातों से नहीं होगा, यह खत्म होगा-मन से, आचरण से; यह खत्म होगा-साझे सपनों और ध्येय से! कई बुद्धिजीवी इतनी जटिल समस्या का सरलीकृत समाधान ढूँढ़ते हैं, यह उचित नहीं। और फिर भारत में जातिवाद केवल सवर्ण-पिछड़े-दलितों तक सीमित नहीं है। बल्कि पिछड़े और पिछड़ों के बीच, दलितों और

दलितों के बीच, समजातियों और उपजातियों के बीच भी एक-दूसरे को ऊँचा-नीचा समझने की भावना है। इस जटिल समस्या का समाधान इसी में है कि जातीय अस्मिता पर प्रहार किए बिना सभी जातियों को एक बड़ी अस्मिता, एक राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़ा जाय। संघ ने ऐसा ही किया, उसने अपने कार्यकर्ताओं को एक बड़ी अस्मिता यानी राष्ट्रवाद और हिंदूत्व से जोड़ा। किसी के लिए यह बड़ी अस्मिता मानवतावाद भी हो सकता है, पर इसकी नींव वायवीय और अव्यावहारिक होती है और राष्ट्रों के पारस्परिक हित टकराने पर ऐसे काल्पनिक व खोखले आदर्श यथार्थ के ठोस व भयानक थपेड़ों से टकराकर चकनाचूर हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्रीय अस्मिता के साथ जीना ही श्रेयस्कर व व्यावहारिक हैं। यह घोर निंदनीय है कि आज के आधुनिक और वैज्ञानिक युग में भी किसी समाज में छुआ-छूत की भावना पाई जाय। पर अपने अनुभव से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का तरीका भी टकराव आधारित नहीं होना चाहिए। इससे जातिवाद समाप्त होने की बजाय और बढ़ेगा। इसका कोई ऐसा तरीका होना चाहिए जिसमें बिना शोर-शराबे और नारे-बाजे के स्वाभाविक रूप से जाति-भेद मिटे, समाज के सामूहिक अनुभवों की साझेदारी हो और विकास की बयार एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेरोक-टोक बहे! आप सोच रहे होंगे कि यह कैसे संभव है? तो कभी आप संघ के शिविरों में जाकर देखिए, उसकी शाखा में जाकर देखिए, कि कैसे वर्षों साथ काम करने वाले, साथ खाने-खेलने वाले लोग एक-दूसरे की जाति तक नहीं जान रहे होते, न जानने की कोशिश ही करते हैं! ऐसी समरसता और अंतरंगता उनके कार्यकर्ताओं में देखने को मिलती है कि सहसा यकीन नहीं होता कि ऐसा भी संभव है? क्या इस प्रकार के भेद-भाव की प्रवृत्ति केवल हिंदुओं में है? बिल्कुल नहीं! मुसलमानों में 72 फ़िरक़े हैं और सभी फ़िरक़े न केवल एक-दूसरे से स्वयं को श्रेष्ठ जताने की कोशिशें करते हैं, बल्कि कई बार उनमें खूनी संघर्ष तक होता है। कई बार क्यों, आज इस्लामिक मुल्कों में जो खूनी संघर्ष जारी है, वह केवल इसलिए ही तो है कि एक कहता है कि हम सच्चे मुसलमान हैं तो दूसरा उसी क्षण उठ खड़ा होता है कि नहीं, ये तो पथभ्रष्ट है, हम ज़्यादा सच्चे और सौ फ़ीसदी शुद्ध मुसलमान हैं। धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान बने लोगों की क्या दुर्दशा है, यह शायद किसी से छिपी नहीं! ईसाई समुदाय भी भेद-भाव से पूर्णतया मुक्त नहीं है। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट का पारंपरिक संघर्ष तो वहाँ रहा ही है, इसके साथ-साथ अन्य अनेक स्तरों पर भी वहाँ भेद-भाव देखने को मिलता है। धर्मांतरित जनों की दशा तो इतने भर से जानी जा सकता है कि राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद को सुशोभित करने वाले शक्तिशाली लोग भी वहाँ रंगभेद के शिकार रहे हैं। यह अकारण नहीं है कि सामाजिक समरसता के आग्रही डॉ भीमराव अंबेडकर ने इस्लाम और ईसाइयत के तमाम आमंत्रणों और प्रलोभनों के बावजूद अपने अनुयायियों समेत बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। वे जानते थे कि अभारतीय मूल के धर्म को स्वीकार करते ही राष्ट्रान्तरण भी हो जाएगा, जो वे नहीं चाहते थे! इसके साथ-साथ शायद वे परावर्तन के दरवाज़े भी खुले रखना चाहते होंगे। डॉ अंबेडकर एक ऐसे राजनेता थे जो जानते थे कि हिन्दू समाज को तमाम प्रपंचों-प्रलोभनों के द्वारा तोड़ने की कोशिश की जाएगी। स्वयं उन्हें

मिशनरियों-मौलवियों से न्यौते थे, पर वे सच्चे राष्ट्रवादी थे, उन्होंने अपने लिए वही पथ चुना जो एक राष्ट्रवादी का हो सकता है! यहाँ तक कि अपने समकालीन अन्य राजनेताओं की तुलना में वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के संदर्भ में भी किसी वायवीय आदर्शों में विचरण करने की बजाय यथार्थ के धरातल पर जीते थे। इसमें कोई दो राय नहीं कि हमें अपनी कमजोरियाँ दूर करनी चाहिए। तब तो और जब बाहर-भीतर से हिन्दू समाज को बाँटने और कमजोर करने की साजिशें दिन-रात रची जा रही हों! पर क्या कोई ऐसा संप्रदाय है जो आंतरिक विरोधाभासों और विसंगतियों से मुक्त है? क्या सचमुच हिंदू समाज वैसा पुरातनपंथी और प्रतिगामी है, जैसा इसके विरोधी इस पर आरोप लगाते हैं? इस सवाल का जवाब ढूँढ़ते समय आपको वर्तमान के साथ-साथ इतिहास में भी झाँकना पड़ेगा। एक नहीं बीसियों ऐसे शासक इस देश में हुए जिनकी वंश-परंपरा पिछड़ी या निम्न जाति से संबद्ध थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर वाराणसी के डोम राजा तक, यदुवंशी कृष्ण से लेकर छत्रसाल और शिवाजी तक। क्या संपूर्ण भारत वर्ष ने उन्हें नहीं स्वीकार किया? यहाँ तक कि हिंदुओं के किसी भी आराध्य या ऋषि-मुनि के साथ कोई जातिसूचक उपनाम कभी नहीं जुड़ा, न जोड़ने की कोशिश की गई। आज कम-से-कम सौ ऐसे संत, पीठाचार्य या प्रवचनकार होंगे जो समाज के निचले तबके से आते हैं। क्या सर्वसाधारण जाति देखकर संतों-मुनियों का अनुयायी बनता है? अरे, भारत में तो निर्गुण भक्तिधारा का प्रसार ही समाज के उन तबकों के द्वारा किया गया, जिन्हें निम्न कहा और माना जाता है? क्या कबीर, रैदास, दादूदयाल, सधना, जैसे निर्गुण संतों की जाति आप जानते हैं? क्या सर्वसाधारण ने इन्हें अपने सर-माथे नहीं बिठाया? क्या भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद या गाँधी जैसे महापुरुषों का नेतृत्व जाति देखकर स्वीकार किया गया था? हाँ, जाति पूछ या बता हम उनका कद ज़रूर छोटा करने की कुचेष्टा करते हैं। क्या किसी तीर्थ-स्थल पर फूल-प्रसाद-नैवेद्य खरीदते हुए उसकी जाति पूछी जाती है? कुल मिलाकर यदि आप सनातन सामाजिक रीति-नीति, इतिहास-परंपरा व विरासत का सूक्ष्मता से अवलोकन करें तो वहाँ बाहरी भेद के बीच परस्पर पूरकता और आंतरिक एकता की एक अस्फुट-अविरल धारा भी आपको दिखाई देगी। सनातन भारतीय संस्कृति एक गतिशील धारा है, जिसके हर कालखंड में एक सुधारवादी प्रक्रिया भी उसके साथ चलती रही है। थोड़े-बहुत प्रतिरोध और झिझक के साथ हिंदू समाज ने सदैव युगीन सुधारों व जीवन-मूल्यों का- न केवल स्वागत भर किया है, बल्कि हृदय से उसे आत्मसात भी किया है। सच तो यह है कि भारत की सनातन सांस्कृतिक धारा एक ऐसी सतत प्रवहमान धारा है, जिसके साथ-साथ स्व-प्रक्षालन की अंतर्धारा भी सदैव चलती रही है। इस अंतर्धारा के कारण ही यहाँ काल-प्रवाह में संचित कूड़ा-कचरा हरेक शताब्दी में किसी-न-किसी सामाजिक-आध्यात्मिक आंदोलन के बहाने प्रक्षालित (स्वच्छ) होता रहा है, इसलिए जातीय आक्रामकता या चिल्ल-पों से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला! अंत में, जब हम जाने-अनजाने किसी जाति या समुदाय को लेकर अनुचित-अतिवादी टिप्पणी करते हैं तो राष्ट्र की अस्मिता पर कुठाराघात करते हैं, उस जाति या समुदाय को एक बड़ी अस्मिता से जुड़ने की समस्त संभावनाओं पर विराम लगा रहे होते हैं और संवाद के उस पुल को ध्वस्त कर रहे होते हैं, जिस पर चलकर देश की अखंडता और एकता की नींव रखी जा सकती है। इसलिए हिंदू समाज के किसी जाति विशेष पर टिप्पणी करने से पूर्व आप एक बार यह ज़रूर सोचिए कि कहीं ऐसा कर आप हिंदू समाज को कमजोर करने की विदेशी-विधर्मी चाल के शिकार तो नहीं होने जा रहे।

(ये लेखक के निजी विचार हैं।)